मुक्ति से पुनरावृत्ति

पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय

कि सृष्टि ६ कारणों से बनी है। प्रत्येक दर्शन एक २ कारण की व्याख्या करता है अतः उनमें विरोध नहीं है। वे लिखते हैं—"सृष्टि के छः कारण हैं उन में से एक एक कारण की व्याख्या एक एक शास्त्रकार ने की है इसलिये उनमें कुछ भी विरोध नहीं"।

इस प्रकार उनका विषय ही भिन्न है अतः उनमें विरोध हो ही नहीं सकता। यह हैं समन्वय के प्रकार जो कि भिन्न २ दृष्टिकोणों से किये गये विचारों को समनुगत करते हैं। शमित्योम्।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

(पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०)

अन्यान्य धर्मों के आधुनिक आचार्यों में ऋषि दयानन्द को छोड़ कर कोई भी ऐसा नहीं है जो मुक्त आत्माओं का संसार में फिर लौटना मानता हो। और इन आचार्यों के मत में प्राचीन ऋषि मुनि भी पुनरावृत्ति को स्वीकार नहीं करते थे। इस प्रकार ऋषि दयानन्द का मत इस विषय में सब से भिन्न है।

यद्यपि मुक्ति की इच्छा सब को है। तथापि मुक्ति क्या वस्तु है इसका लोगों को थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं है। आश्चर्य की बात है कि जिस वस्तु को हम चाहते हैं उसको पहचानते नहीं। कल्पना कीजिये कि मैं बाज़ार में मलमल लेने जाता हूँ। मैंने मलमल की बड़ी प्रशंसा सुनी है। मलमल बड़ी अच्छी चीज़ है। मेरे मन में मलमल के लिये बड़ी उत्कण्ठा है। परन्तु मैं नहीं जानता कि मलमल किस जाति से सम्बन्ध रखती है और उसका निज स्वरूप क्या है? ऐसी दशा में यदि मुझे कोई मलमल के स्थान में कबूतर दे देवे तो मैं कैसे पहचानूँगा कि यह मलमल नहीं है। मुक्ति के विषय में भी वही अवस्था है। प्रति वर्ष लाखों पुरुष गंगा में स्नान करने जाते हैं। इनमें अधिकांश की वास्तविक इच्छा यही होती है कि गंगा स्नान से मुक्ति मिलेगी यदि ऐसा न हो तो इतने नर-नारी यात्रा की घोर यातनाओं को सहन करके वहाँ न जावें। परन्तु क्या उनको मालूम है कि मुक्ति क्या वस्तु है जिसकी प्राप्ति के लिये वह इतना कष्ट उठा रहे हैं। वह इतना तो समझते हैं मुक्ति कोई ऐसी वस्तु है जिसका सम्बन्ध परलोक से है और वह मृत्यु के पश्चात् ही मिल सकती है परन्तु यदि उनको पता लग जावे कि जो गंगा में स्नानार्थ प्रवेश करता है उसकी तत्काल ही मुक्ति हो जाती है तो मेरा विचार है कि लाखों में एक मनुष्य भी गंगा स्नान करने न जावे या मार्ग से ही बिना स्नान किये लौट आवे। क्यों? इसलिये कि मुक्ति-विषयक भावना अत्यन्त अनिश्चित और कुहरे के समान है। यही कारण है कि मुक्ति प्रायः चोर बाज़ार की वस्तु रही है। कोई पहचानता तो है ही नहीं कि मुक्ति क्या चीज है। इसलिये भिन्न २ मुक्ति के दुकानदार भिन्न वस्तुओं को मुक्ति के नाम से चला देते हैं। जितना धोखा मुक्ति के विषय में है उतना शायद ही किसी अन्य के विषय में हो।

यह विचारने के लिये कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है या नहीं हम को मुक्ति के वास्तविक स्वरूप को जानना होगा। तभी हम जान सकेंगे कि मुक्ति के पश्चात् हमारा क्या होगा।

कहा जाता है कि मुक्ति वह अन्तिम ध्येय है जिसके लिये मनुष्य को जीवन भर यत्न करना चाहिये। अर्थात् हमारे जीवन यात्रा की अन्तिम मंजिल मुक्ति है। यदि यह ठीक है तो हमको यह भी

देखना होगा कि हम यात्री क्या हैं। यात्री, यात्रा और मंजिल यह तीनों ही तो निश्चित होने चाहिये, यात्रा की मंज़िल यात्री के स्वरूप के ही तो अनुरूप होगी।

मुक्ति का अर्थ है छूटना। इसका उलटा है बन्ध। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं, यों तो मुक्ति या मोक्ष निषेधात्मक शब्द हैं अर्थात् बन्ध न रहने को मुक्ति कहते हैं। परन्तु वास्तव में बन्ध उस अवस्था का नाम है जब स्वतन्त्रता न रहे। इसलिये यह भी देखना होगा कि स्वतन्त्रता के बाधक क्या क्या हेतु हैं।

यह सुनकर पाठकवर्ग को आश्चर्य होगा कि वेदों में मुक्ति या मोक्ष शब्द दृष्टि-गोचर नहीं होता। केवल नीचे के मन्त्र में 'मुच्' धातु के एक लकार का प्रयोग आया है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

यहां ईश्वर से प्रार्थना की गई है जिस प्रकार पका फल अपने बन्धन से बिना किसी पीड़ा के छूट पड़ता है इसी प्रकार मैं भी जब इस शरीर रूपी बन्धन से छूटूं तो मुझे किसी प्रकार का क्लेश न हो। और मैं अमृत से न छूटूं।

संभव है कि मुक्ति या मोक्ष का भाव यहीं से लिया गया हो। परन्तु पिछले दार्शनिकों ने मुक्ति के विषय में जो मीमांसा की है वह इस मन्त्र से कुछ अधिक सम्बन्ध नहीं रखती। वेदों में मुक्ति के स्थान में 'परमपद' या इसी प्रकार अन्य शब्द आये हैं। जैसे—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म के परमपद को पहुँचना ही जीवन का ध्येय है।

जीवन के ध्येय को समझने के लिये जीव के स्वरूप पर दृष्टि डालनी होगी क्योंकि जीव के स्वरूप पर ही उसके अन्य व्यवहार और व्यापार को आश्रित करना होगा। कोई वस्तु उस कार्य को सम्पादित नहीं कर सकती जिसकी उसके भीतर बीजशक्ति नहीं है। इसी प्रकार जीव उस परमपद की प्राप्ति नहीं कर सकता जो उसके आन्तरिक स्वरूप में बीज रूप से विद्यमान नहीं है। आप आंख की दर्शन-शक्ति को पराकाष्ठा तक ले जा सकते हैं क्योंकि आंख में बीज रूप से दर्शन-शक्ति विद्यमान है। यदि आप दांत को उन्नतशील बना कर उससे देखने का काम लेना चाहें तो दांत को दर्शन-यंत्र नहीं बना सकते। क्योंकि दांत में दर्शन-शक्ति का बीजमात्र भी नहीं है। गेहूँ का बीज सर्वोत्कृष्ट गेहूँ हो सकता है और बबूल का बबूल, अन्यथा नहीं। इसलिये मोक्ष या परमपद के विषय में ऊहापोह करने से पूर्व हम को जीव के स्वरूप की ओर जाना चाहिये।

जिस प्रकार मोक्ष के विषय में अनेकों भ्रम हैं उसी प्रकार जीव के विषय में भी मतैक्य नहीं है। आइये कुछ आचार्यों की विचार धाराओं का अनुसरण करें और देखें कि वे किधर जा रही हैं। सब से पूर्व चारवाक को लीजिये। चारवाक के शास्त्र के प्रथम तीन सूत्र यह हैं:—

१. अथ तत्त्वं व्याख्यास्यामः।
२. पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्वानि।
३. तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्।

अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार तत्वों के संघात से चेतना उत्पन्न होती है। जैसे जौ आदि के द्वारा शराब में नशा आ जाता है।

चारवाक के समस्त सूत्र उपलब्ध नहीं हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जीव की चेतनता उत्पन्न करने के लिये यह चारों तत्व किस प्रकार मिल गये और किस प्रकार अलग किये जा सकते हैं। परन्तु यदि इनके अलग होते ही चेतनता का भी अन्त हो जाता है तो मृत्यु ही निषेधात्मक मुक्ति है। बन्ध का अन्त यहीं हो जाता है। क़ैद का अन्त ही क़ैदी का अन्त है क्योंकि क़ैदी क़ैद से इतर नहीं। यह मुक्ति पशु-पक्षियों को भी अनायास ही उपलब्ध है। इसके लिये किसी प्रयत्न, सदाचार, जप, तप की आवश्यकता नहीं। योगी और भोगी दोनों ही एक से। ऐसी मुक्ति से पुनरावृत्ति के प्रश्न का भी कोई सम्बन्ध नहीं। यह प्रश्न ही असंगत है। जो है ही नहीं वह लौटेगा क्या? चारवाक महोदय इस दार्शनिक नीव पर आचार शास्त्र की भित्ति किस प्रकार स्थापित करते थे यह ज्ञात नहीं, परन्तु इनके दर्शन के अनुसार परमपद कोई वस्तु नहीं। नाश का ही नाम मुक्ति है। जीवन आता है न जाता है। केवल तत्वों के विशेष संघात का नाम जीव रख लिया है। यह संघात एक अर्थ में फिर भी लौटता है क्योंकि एक बार जीवन समाप्त करके तत्वों का जो संघात तितिर बितिर हो गया और तत्व अपने मूल रूप में आ गये वह फिर मिलकर दूसरा जीवन बना देते हैं। शायद चारवाक ऐसा तो नहीं मानते कि जिन तत्वों ने एक बार चेतनता उत्पन्न कर दी वह फिर कभी दूसरी चेतनता उत्पन्न न कर सकेंगे। यह दूसरी बात है कि इस चेतनता को पुरानी चेतनता का कोई ज्ञान हो।

अब बौद्धों को लीजिये। महात्मा बुद्ध ने जीव के अस्तित्व को कहीं पर स्पष्ट रीति से स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उच्छेदवाद और शाश्वतवाद दोनो से इनकार किया है। परन्तु नागसेन आदि बौद्ध दार्शनिकों ने 'जीव' की तात्विक सत्ता से खुले रूप से इनकार किया है। बौद्धों की दृष्टि में चैतन्य दीपक की लौ के समान क्षणिक है। और इस लौ का सर्वथा बुझ जाना ही निर्वाण है। जीव की सत्ता को झमेले में डाल कर बौद्धों ने 'निर्वाण' के स्वरूप को भी झमेले में ही छोड़ दिया है। वस्तुतः क्षणिकवाद में न तो मुक्ति को कोई स्थान है न उसके पश्चात् पुनरावृत्ति को। निर्वाण शब्द ही उनकी अनिश्चितता को प्रकट करने के लिये पर्याप्त है। चारवाक मुक्ति के लिये प्रयास नहीं करता। बुद्ध जीवन की आचारता पर अत्यन्त बल देता है। परन्तु मुक्ति के पश्चात् जीव रहता है या नहीं और यदि रहता है तो किस अवस्था में, इसकी कोई दार्शनिक विवेचना नहीं है। वस्तुतः बौद्ध-विचार क्षणिकत्व के गहरे गर्त में डूब जाता है और साधारण जनता के लिये केवल भ्रममूलक ऊटपटांग mythology ही शेष रह जाती है।

भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों में सबसे अधिक मान शांकर मत का है। शंकर स्वामी जगत् के मिथ्यात्व और जीव ब्रह्म की एकता के मानने वाले हैं। इनके मत में जीव को कोई विशेष स्थान नहीं। न जीव कभी ब्रह्म से इतर था, न अब है, न कभी रहेगा। जीव का जीवन भ्रम मूलक है। अविद्यावश जीव ने अपने को जीव समझ लिया है। वस्तुतः यह ब्रह्म ही है। जिस दिन यह ज्ञान हो जायगा उसी दिन मुक्ति हो जायगी। अर्थात् जीवत्व की भावना की निवृत्ति और ब्रह्म होने के ज्ञान की उत्पत्ति ही मुक्ति है। मुक्ति के पश्चात् जीव जीव रहता ही नहीं, फिर पुनरावृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वस्तुतः देखा जाय तो शांकर वेदान्त की मुक्ति और बौद्ध तथा चारवाकों

की मुक्ति के स्वरूप में कोई भेद नहीं, उनके साधनों में भेद है। बात यह है कि शंकर स्वामी के मन में दो बातें काम कर रही थीं। एक तो वेदों के उद्धार की भावना। दूसरी बौद्ध दर्शन का प्रभाव। उनके गुरु श्री गोविन्दाचार्य और दादागुरु गौड़पादाचार्य दोनों नागार्जुन के माध्यमिक सूत्रों से अत्यन्त प्रभावित थे। युक्तियों में यह दोनों दर्शन अत्यन्त समीप हैं, वही दृष्टान्त, वही विचार शैली। केवल सिद्धान्तों में भेद है। शंकर स्वामी ने अपने सिद्धान्त उन्हीं युक्तियों के आधार पर बनाये और वेद तथा उपनिषदों के वाक्यों का उन्हीं के अनुसार व्याख्यान किया। वैदिक कर्मवाद, वैदिक पुनर्जन्मवाद, वैदिक मुक्ति इनके शून्यवाद के साथ एक विचित्र सम्मिश्रण प्रतीत होता है जो मायावाद के रूप में आविर्भूत हुआ है। शंकर स्वामी के दार्शनिक मत का खण्डन यामुनाचार्य से लेकर निम्बार्काचार्य और उनके शिष्यों द्वारा बलपूर्वक किया गया जिसमें यह दिखाया गया कि शांकरमत में मुक्ति के लिये कोई स्थान ही नहीं है। क्योंकि जो कारण बन्ध के बताये जाते हैं उनकी निवृत्ति होना असम्भव है। शंकर स्वामी का ब्रह्म निर्विशेष चैतन्य है। निर्विशेष चैतन्य का उपाधियों द्वारा आच्छादन किस प्रकार होवे और यदि हो जाय तो उपाधियों की निवृत्ति किस प्रकार हो। माधवमुकुन्द ने "परपक्षगिरिवज्र" में अकाट्य युक्तियों द्वारा इसका प्रतिपादन किया है। परन्तु हम यहाँ इस बात की मीमांसा नहीं कर रहे कि शांकर मत में मुक्ति असंगत है या नहीं। हमारा तो केवल इतना ही प्रयोजन है कि शांकर मत में जीव के व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं है केवल भ्रममात्र है। मोक्ष में वह भ्रम भी दूर हो जाता है। अतः न जीव रहा, न मोक्ष, न उससे लौटना। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक ऋषि, मुनि या आचार्य की मुक्ति हो गई क्योंकि माया अब भी अपना कार्य कर रही है और अनेकों जीव जो वास्तव में ब्रह्म हैं अपने को जीव मान रहे हैं। दूसरी बात यह है कि यदि उपाधियों का आश्रय अन्तःकरण हैं तो बन्ध और मुक्ति प्रति क्षण होती रहती है और क्षणिक मुक्ति का अर्थ ही पुनरावृत्ति है। परन्तु पुनरावृत्ति का प्रश्न मुख्यतया उनके विषय में उठता है जो जीवों के निज अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यदि जीव अनुत्पन्न और अमर हैं तो प्रश्न यह है कि इन जीवों के बन्ध का क्या कारण है और मोक्ष का क्या साधन है और इस प्रकार प्राप्त किये हुए मोक्ष का स्वरूप क्या है। फिर देखना होगा कि इस मोक्ष से कभी पुनरावृत्ति होगी या नहीं।

यदि जीव को अनुत्पन्न और अमर माना जाय तो प्रश्न यह उठता है कि बन्ध अनादि है या सादि। यदि बन्ध अनादि है तो वह अनन्त भी होगा क्योंकि अभाव (प्रागभाव) को छोड़कर और कोई ऐसी चीज या अवस्था नहीं जिसका आदि न हो अन्त हो। ऐसी दशा में मुक्ति की संभावना भी न रहेगी। यदि बन्ध का आदि है तो उसके कोई कारण होंगे। जीव न तो स्वभाव से बद्ध है न स्वभाव से मुक्त। 'शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव' शब्द का प्रयोग जीव के लिये भूल से किया जाता है। यह विशेषण तो ब्रह्म ही पर लागू होता है। प्रतीत होता है कि इस शब्द के प्रयोग का चलन नवीन वेदान्तियों से चला है। यदि जीव स्वभाव से शुद्ध स्वभाव से बुद्ध और स्वभाव से मुक्त है तो कोई चीज इसको अशुद्ध, और अमुक्त बना ही नहीं सकती, परन्तु ऐसा मानना वास्तविकता के विरुद्ध है। हम में अशुद्धि, अज्ञान और बद्धता है। हम प्रतिक्षण इस का अनुभव करते हैं। और इससे छूटने का प्रयत्न करते हैं। इस से स्पष्ट है कि हम स्वभावतः मुक्त नहीं हैं। परन्तु यदि यह माना जाय कि हम स्वभाव से बद्ध हैं तो भी

नहीं बनता। क्योंकि अपना स्वभाव किसी को बुरा नहीं लगता और न उस से छूटने की प्रवृत्ति होती है। हम कोशिश उसी वस्तु के लिये करते हैं जिस की प्राप्ति को सम्भव समझते हैं। जीवों की प्रवृत्ति और प्रकृति दोनों से ज्ञात होता है कि बन्ध स्वाभाविक नहीं है। जब बन्ध और मोक्ष दोनों स्वाभाविक न रहे तो नैमित्तक होंगे और इन के निमित्त कारण पर विचार करना होगा।

ऋषि दयानन्द जीव के वही लक्षण मानते हैं जो गोतम ने न्याय में माने हैं अर्थात् सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष ज्ञान, प्रयत्न। सूत्र में आत्मा शब्द है। परन्तु 'सुख दु:ख' शब्द प्रकट करते हैं कि यहाँ आत्मा से जीव अभिप्रेत है परमात्मा नहीं। कणाद मुनि ने आत्मा के लक्षणों में निमेष उन्मेष आदि का भी परिगणन किया है। परन्तु यह लक्षण बाह्य हैं अन्तरिक नहीं। केवल शरीर से संबन्ध रखने के कारण आत्मा के स्वरूप को नहीं बताते। कुछ क्रियाओं की ओर ही संकेत करते हैं। गोतम मुनि की बताई हुई छः बातें भी स्वरूप नहीं लिङ्ग मात्र हैं। परन्तु उनसे स्वरूप का ठीक ठीक पता लग जाता है।

आत्मा के दो लिङ्ग बताये गये हैं सुख और दु:ख। परन्तु सुख और दु:ख दोनों एक साथ विद्यमान नहीं रहते। आत्मा जिस क्षण सुखी है उस क्षण दु:खी नहीं और जिस क्षण दु:खी है उस क्षण सुखी नहीं इस से कुछ लोग समझते हैं कि सुख और दु:ख दोनों आत्मा के गुण नहीं। परन्तु यदि यह आत्मा के गुण नहीं तो किस के गुण होंगे? वायु में उष्णता अग्नि से आती है, इसलिये कह सकते हैं कि उष्णता वायु का स्वाभाविक गुण तो नहीं परन्तु नैमित्तिक गुण है। उष्णता अग्नि का स्वाभाविक गुण है और अग्नि से आने के कारण ही वायु का नैमित्तिक गुण हो जाती है। नैमित्तिक गुण वही है जो किसी अन्य निमित्त का स्वाभाविक गुण हो। इसलिये यदि सुख और दु:ख को आत्मा का नैमित्तिक गुण माना जाय तो यह बताना चाहिये कि सुख दु:ख किस निमित्त का स्वाभाविक गुण हैं? जड़ प्रकृति न सुखी है न दु:खी, ब्रह्म में भी दु:ख नहीं फिर दु:ख आत्मा का न स्वाभाविक गुण ठहरता है नैमित्तिक। यह एक ऐसी उलझन है जिस का सुलझाना आवश्यक है।

इस उलझन को सुलझाने में एक बात सहायक होगी। यह ठीक है कि आत्मा या सुखी होगा या दु:खी! परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि आत्मा न सुखी हो न दु:खी! दु:ख जब न होगा तो सुख होगा और सुख जब न होगा तो दु:ख होगा। यह बात यों तो बहुत ही साधारण प्रतीत होती है परन्तु दार्शनिक दृष्टि से महत्व की है। सुख के अभाव का नाम दु:ख और दु:ख के अभाव का नाम सुख नहीं है। जिस वस्तु में दु:ख का सर्वत्र अभाव है जैसे पत्थर, उसको सुखी नहीं कह सकते। इसी प्रकार जिसमें सुख का अभाव है अर्थात पत्थर, उसे दु:खी नहीं कह सकते। कुछ लोगों का यह आपत्ति हो सकती है कि यदि सुख का अभाव दु:ख और दु:ख का अभाव सुख नहीं तो दोनों एक ही समय एक ही स्थान में क्यों नहीं ठहर सकते। परन्तु यह आपत्ति निराधार है। दो शत्रुओं का एक स्थान में अभाव हो सकता है परन्तु युगपत् भाव नहीं। सुख दु:ख उसी प्रकार शत्रु हैं जैसे व्याकरण में आदेश और उसका स्थानी या जैसे पिचकारी में वायु और जल। जब वायु निकलता है तो जल भरता है, जब जल निकलता है तो वायु आ जाता है। सुख और दु:ख सापेक्षिक भी नहीं है। यहाँ भी बहुधा समझने में भूल हो जाती है, लोग सुख और दु:ख को सापेक्षिक इसलिये समझ लेते हैं कि वे दु:ख के साधन को दु:ख और सुख के साधन को सुख समझ लेते हैं, जिनको हम सुख के साधन

या दुःख के साधन कहा करते हैं वह व्यभिचारी साधन हैं। अर्थात् यह सोलह आना सत्य नहीं कि उनसे सुख ही हो या दुःख ही हो। सुख के साधन किसी किसी को सुखी और किसी किसी को दुःखी भी करते हैं, और दुःख के साधन भी किसी किसी को सुखी भी करते हैं। अतः सुख और दुःख की मीमांसा करते समय साधनों पर विचार नहीं करना चाहिये।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जब आत्मा को सुख न होगा तो दुःख अवश्य होगा और जब दुःख न होगा तो, सुख अवश्य होगा। इसलिए पता चला कि सुख और दुःख आत्मा के किसी एक ही गुण के दो प्रकारों के नाम हैं। इस गुण को हम भोक्तृत्व कहेंगे। भोक्तृत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण है। इससे आत्मा कभी मुक्त नहीं हो सकता। इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति पर सुख होना भी भोक्तृत्व है और अनिष्ट पदार्थों की उपलब्धि पर दुःख होना भी भोक्तृत्व है। यदि आत्मा में भोक्तृत्व न होता तो उस को न तो सांसारिक पदार्थ कुछ सुख दे सकते न वह मोक्ष सुख की ही इच्छा अथवा प्राप्ति कर सकता।

परन्तु आत्मा में केवल भोक्तृत्व ही नहीं है। इसमें ज्ञान भी है। ज्ञान शब्द के विषय में भी बहुत सा भ्रम है। कुछ लोग समझते हैं कि आत्मा स्वभावतः ज्ञानी है, अज्ञान किसी निमित्त से आ जाता है, परन्तु अज्ञान का अर्थ चाहे ज्ञान का अभाव लो या मिथ्याज्ञान, दोनों बातें स्वभावतः ज्ञानी को नहीं सता सकती। प्रथम तो स्वाभाविक ज्ञानी सर्वज्ञ होगा। क्योंकि किसी को जाने और किसी को न जाने, इसकी व्याख्या किस प्रकार हो सकेगी, दूसरे ज्ञानी के ज्ञान का तिरोभाव हो ही कैसे सकता है? दीपक और दूसरी वस्तुओं के बीच में परदा रख सकते हैं परन्तु दीपक और उसके प्रकाश के बीच परदा कैसे डाला जा सकता है? जो जीव स्वभाव से ज्ञानी है वह अज्ञानी या मिथ्या ज्ञानी हो ही नहीं सकता। अतः हमको स्वीकार करना पड़ता है कि ज्ञान का अर्थ यहां ज्ञात वस्तुओं का भण्डार नहीं अपितु ज्ञातृत्व शक्ति है। यह शक्ति उसको जड़ पदार्थों से अलग करती है। प्रत्येक जीव में ज्ञातृत्व है। ज्ञात वस्तुओं की मात्रा घटती बढ़ती रहती है। हम यत्न करने से प्रतिदिन नई वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं। शिक्षा का भी यही प्रयोजन है। उपलब्ध ज्ञान का क्षय भी उसी प्रकार होता रहता है जैसे उपलब्ध धन का। मिथ्या ज्ञान की भी उसी प्रकार उपलब्धि होती रहती है जैसे कभी कभी कोष में खोटे रुपये आ जाते हैं। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि जीव का ज्ञातृत्व नष्ट हो जाय। मेरे विचार से गोतम जी महाराज ने ज्ञान को इसी अर्थ में लिया है।

इस प्रकार जीव के दो गुण ज्ञात हो गये एक भोक्तृत्व, दूसरा ज्ञातृत्व, परन्तु एक तीसरा गुण और है। इसको न्यायदर्शन में प्रयत्न कहा है। प्रयत्न का अर्थ है कार्य्य-शीलता। जड़ पदार्थ अचर है। जीव चर हैं। अचरों में चरत्व भी जीव का दिया हुआ होता है। चैतन्य का मुख्य लक्षण है, उसकी चरता। प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष आदि भी जीव के चरत्व के कारण हैं। इसको हम कर्तृत्व कह सकते हैं। इच्छा और द्वेष में कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व का सम्मिश्रण रहता है। इच्छा क्या है? इस का विश्लेषण कीजिये। हम को भान है कि अमुक वस्तु हम को सुख पहुंचा सकती यदि वह हमारे पास होती। इस में ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व दोनों काम कर रहे हैं। यदि हम में केवल ज्ञातृत्व होता और भोक्तृत्व न होता तो उनके लेने की इच्छा भी न होती। जिस वस्तु का ज्ञान है परन्तु जिसके भोगने की भावना नहीं है उसको लेने की इच्छा भी नहीं होती। हम जानते हैं कि सर्प के मुख में विष हैं। परन्तु जब तक हम उस विष के भोगने की भावना न करें उसकी इच्छा भी न

करेंगे। परन्तु याद रखना चाहिये कि इच्छा में केवल ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व ही नहीं हैं उसमें चरत्व अर्थात् कर्तृत्व का भी अंश है और पुष्कल अंश है। यह सभी का अनुभव है कि इच्छा होते ही प्राणी यदि भौतिक रूप से नहीं तो मानसिक रूप से तो अवश्य ही दूषित वस्तु तक पहुँच जाता है। यदि इच्छा न हो तो कोई कार्य हो ही नहीं सकता।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद्धि कुरुते किञ्चित् तत् तत् कामस्य चेष्टिमम्॥ (मनु० २।४)

वस्तुतः इच्छा कर्तृत्व का पहला सिरा है। जो बात बात इच्छा के विषय में कही गई वही द्वेष के साथ भी लागू होती है। बात वही है। इच्छा सुख की भावना से आरम्भ होती है और द्वेष दुःख की भावना से। और दोनों भोक्तृत्व से। यदि जीव भोक्ता न होता तो उसमें न इच्छा होती न द्वेष।

इस प्रकार हमने जीव के तीन गुणों का पता लगा लिया अर्थात् भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व। परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न उत्पन्न होता है। इन में से कौन २ से गुण हैं जो ब्रह्म को जीव से अलग करते हैं? जीव में ज्ञातृत्व हैं? ब्रह्म में भी ज्ञातृत्व हैं। जीव में कर्तृत्व है ब्रह्म में भी कर्तृत्व है। शायद आप कहें कि जीव में भोक्तृत्व है। परन्तु ब्रह्म में भोक्तृत्व नहीं क्योंकि वेद भी कहता है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति॥ (ऋ० १।१६४।२०)

अर्थात् जीव तो इस वृक्ष के फल को भोगता है और ब्रह्म नहीं।

परन्तु ब्रह्म को भोक्तृत्व से शून्य कहना ठीक नहीं। वेद मन्त्र में यह नहीं कहा गया कि ब्रह्म में भोक्तृत्व नहीं। वेदमंत्र तो केवल इतना कहता है कि ब्रह्म इस वृक्ष के पिप्पल को नहीं खाता। ब्रह्म तो स्वयं ही आनन्द स्वरूप है। वह अपने ही आनन्द से आनन्दित रहता है।

शायद लोग कहेंगे कि हमने ऐसा कह कर ब्रह्म को भोगी बना दिया। यह तो ब्रह्म का घोर अनादर है। परन्तु याद रखना चाहिये कि हमने भोग शब्द को बाजारू अर्थ में नहीं लिया। साधारण भाषा में तो भोगी विषयी पुरुष को कहते हैं जो सांसारिक विषयों में सुख की तलाश करता है। जो योग के आनन्द को चख रहा है उसको भोगी नहीं कहते। परन्तु यह तो साधारण भाषा का प्रयोग मात्र है। दार्शनिक विचार करते समय तो हम को इस से ऊँचा उठना पड़ेगा ईश्वर का आनन्द न तो उसके कर्तृत्व में आता है न ज्ञातृत्व में। यह तो उसी कक्षा की चीज है जिसकी सुख। हम ऊपर कह चुके हैं कि सुख और सुख के साधनों में भेद है। उपनिषत्कारों ने तो यहां तक कहा है कि जल के पीने से हम को सुख इसीलिये होता है कि हमारी वृत्ति जल से हट कर भीतर की ओर हो जाती है। कुछ विद्वानों ने सुख और आनन्द में यह भेद किया हैं कि सुख में दुःख का सम्मिश्रण रहता है, आनन्द में नहीं। परन्तु सम्मिश्रण का क्या अर्थ है? सुख और दुःख मिल कैसे सकते हैं? और उनके मिलने से तीसरी क्या चीज़ उत्पन्न होगी? यदि कहो कि आनन्द और दुःख से मिलकर सुख बनता है तो भी हमारी ही बात ठीक होगी अर्थात् आनन्द भोक्तृत्व है। सुख और दुःख का उसी प्रकार सम्मिश्रण हो ही नहीं सकता जैसे दूध और शकर मिलते हैं, न उस प्रकार जैसे आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर जल

बनता है। दुःखमिश्रित सुख का अर्थ केवल यही है कि जो वस्तु हम को इस क्षण सुख देती है वह वस्तु दूसरे क्षण में दुःख देने लगती है। ईश्वर दूसरी वस्तुओं के आश्रय से सुख ग्रहण नहीं करता इसलिये वहां दुःख का प्रसंग भी नहीं उठता। इसलिये ईश्वर को आनन्दस्वरूप भी कहा है और सुखस्वरूप भी। स्वानुभूति ही उसका आनन्द है।

आप कहेंगे कि तुम्हारे इतने कथन ने प्रश्न को और जटिल कर दिया अर्थात् जीव और ब्रह्म में क्या भेद है यदि ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, और कर्त्तत्व तीनों में पाये जाते हैं।

भेद है और बड़ा स्पष्ट भेद है। इसी भेद का सम्बन्ध मुक्ति के प्रश्न से है। ब्रह्म को अनन्त और विभु कहा है। जीव सान्त और अणु है। ईश्वर में पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण कर्तृत्व है, जीव में नहीं। इसलिये मुझे जीव का इससे अच्छा लक्षण नहीं मिला—

जीवो भोक्तृत्व ज्ञातृत्व कर्तृत्ववानणुः।

जीव का अणुत्व ही जीव के बन्ध, जीव के मुमुक्षत्व और जीव के मोक्ष कारण है। ईश्वर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव होने से न बद्ध है, न मुमुक्षु और न मुक्त। जब हम ईश्वर को मुक्त-स्वभाव कहते हैं तो यहां मुक्त का प्रयोग सापेक्षिक दृष्टि से ही करते हैं। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में एक प्रश्न उठाया है कि ईश्वर रागी है या विरक्त। और इस प्रश्न का उन्होंने जो उत्तर दिया है वह यहां भी लागू होता है।

यहां चलते हुये एक बात और स्पष्ट कर दी जाय। प्रायः कहा जाता है कि '**ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति**' अर्थात् मुक्त अवस्था में जीव भी ब्रह्म हो जाता है। परन्तु उपनिषद् के इस वाक्य का अर्थ 'एव' के स्थान में 'इव' ही करना होगा। वेदान्त दर्शन के एक सूत्र में इस बात को बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है:—

जगद् व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च। वे० सूत्र ४।४।१७

श्री शंकराचार्य जी इसके भाष्य में लिखते हैं:—

जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। जगद् व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य।

अर्थात् मुक्त जीवों को अन्य शक्तियां तो आ जाती हैं परन्तु वह सृष्टि की उत्पत्ति आदि नहीं कर सकते। न सूर्य्य, चन्द्र बना सकते हैं, न लोक-लोकान्तरों का पालन या संहार कर सकते हैं, यह काम तो नित्य सिद्ध ईश्वर ही करता है। यहां दो बातें स्पष्ट हैं। मुक्ति में जीव ब्रह्म नहीं हो जाता। दूसरा "अहं ब्रह्मास्मि" की अनुभूति मोक्ष का साधन नहीं है।

अब देखना चाहिये कि जिसको मोक्ष या परमपद कहा जाता है वह किस अवस्था का नाम है। जो लोग किसी स्थान विशेष की प्राप्ति को मुक्ति कहते हैं वह तो सर्वथा ही भ्रांत हैं। चाहे चौथा, सातवां, आस्मान हो, चाहे चन्द्र या सूर्य्य लोक या शिला विशेष। परन्तु यदि एक जीव किसी स्थान विशेष में जा सकता है तो सिवाय क़ैद के और अवस्थाओं में वहां से आ क्यों नहीं सकता? यह तो समझ में आ सकता है कि किसी को नरक से बाहर निकलने न दिया जाय क्योंकि नरक बन्दीगृह है। परन्तु स्वर्ग में क़ैद करने का तो कोई प्रयोजन ही नहीं। फिर भी दार्शनिक सिद्धान्त तो यही है

कि जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी है। प्रध्वंसाभाव को छोड़ कर अन्य कोई दृष्टान्त ऐसा नहीं है जो इसका खण्डन कर कर सके। अभाव को दृष्टान्त मानने में कई आपत्तियां हैं जो लोग प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को लेकर उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन करते हैं वह भूल करते हैं। इस हेत्वाभास को हम बीज गणित के एक समीकरण से दिखाते हैं:—

कल्पना कीजिये कि—

त्त=०

∴ १०० त्त=०

और २ त्त=०

∴ १०० त्त=२ त्त

त्त का दोनों में भाग दे दीजिये

∴ १००=२

यहां समीकरण के सभी नियम ठीक ठीक लगाये गये हैं। हेत्वाभास का स्थान केवल एक है। वह यह कि त्त को ० के बराबर मान लिया गया है। अर्थात् 'त्त' अभाव का नाम है। यदि 'त्त' भाव का नाम होता तो कभी यह अव्यवस्था उत्पन्न न हो सकती। इसी प्रकार भाव और अभाव समकक्ष न होने के कारण भाव में अभाव का दृष्टान्त काम नहीं करता। एक और बात है जिसकी ओर दार्शनिकों का ध्यान नहीं गया। प्रागभाव को अनादि सान्त और प्रध्वंसाभाव को सादि अनन्त कहने वालों ने यह नहीं सोचा कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव हैं क्या वस्तु और उनका यह नाम क्यों पड़ा। इनके नाम से ही प्रगट होता है कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव एक अनित्य (सादि और सान्त) वस्तु के आदि और अन्त के नाम हैं। और उसी की अपेक्षा से रक्खे गये हैं। घट के जन्म से उसका नाम घट का प्रागभाव है और उसके मरण का नाम घट का प्रध्वंसाभाव। यदि इन अनित्य (सादि और सान्त) वस्तुओं को छोड़ दीजिये तो न प्रागभाव ही कुछ ठहरता है और न प्रध्वंसाभाव। इसलिये यदि स्वर्ग का आदि है तो अन्त अवश्य ही मानना पड़ेगा। और पुनरावृत्ति सिद्ध हो जायगी।

परन्तु हम इसको यहीं छोड़कर परमपद के स्वरूप पर विचार करते हैं। हम कह चुके हैं कि जीव में भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व हैं। और जीव अणु है। इसकी अल्पता या अणुता उसको प्रेरित करती है कि वह भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में उत्कृष्टता उत्पन्न करे। हम यदि प्राणियों की प्रवृत्तियों का निरीक्षण करें तो हमको विदित होगा कि जीव के समस्त व्यापार इन्हीं तीन हेतुओं से होते हैं अर्थात् या तो भोक्तृत्व में उत्कृष्टता हो जाय या ज्ञातृत्व में या कर्तृत्व में या तीनों में। अच्छा विकास वही कहलाता है जिसमें इन तीनों का साम्य और समावेश हो। विषमता प्रायः दोष ही समझी जाती है। ज्ञान शून्य भोग या भोग शून्य कर्म या कर्म शून्य ज्ञान संभव भी नहीं और यदि विषमता अधिक हो तो अनिष्ट भी समझे जाते हैं। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य अधिक ज्ञानी है परन्तु गन्दी वस्तुओं में आनन्द लेता है या महा आलसी है तो उसको विकसित नहीं कह सकते। अनुमान यही होता है कि उसके ज्ञान में कोई दोष है। सच्चा ज्ञान तो वही है जिसमें सच्चा आनन्द और सच्ची कार्य्यशीलता हो। प्रायः लोग अन्ध विश्वास को भक्ति समझते हैं। इसीलिए भक्ति मार्ग, ज्ञानमार्ग और कर्म मार्ग तीन भिन्न २ मार्ग मान लिए गये हैं। भक्त वही समझा जाता है जो तर्क और ज्ञान शून्य हो

और किसी कार्य्य को न करता हो। यह भूल है। यह तीन मार्ग नहीं अपितु काण्ड हैं। अर्थात् सच्चे विकास में तीनों अर्थात् भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व का साम्य है। मुण्डक उपनिषद् कहती है :—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्, कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥

पाठक गण 'परमं साम्यं' पर विचार करें। उपनिषद् कहती है कि परब्रह्म के साक्षात्कार से यह साम्य प्राप्त होता है। इस साम्य को आप मुक्ति भी कह सकते है और 'परमपद' भी। परन्तु इस से भी अधिक ध्यान देने की यह बात है कि इस श्लोक में ब्रह्म के किस किस गुण का साक्षात्कार कहा है—'ब्रह्म-योनिम्' अर्थात् ज्ञान का भण्डार और भ्रम या अविद्या से सर्वथा रहित। 'कर्त्तारम्' अर्थात् 'क्रिया शीलता' का आदि स्रोत और 'रुक्मवर्णम्' शुद्ध, पवित्र, मलीनता आदि दोषों से रहित शुद्ध विमल आनन्द का स्वरूप। जीव को इन्हीं गुणों की तो आवश्यकता है। इन्हीं गुणों का धारण करना परमात्मा का साक्षात्कार है और परमात्मा का साक्षात्कार ही इन गुणों का धारण करना है, सूर्य्य को देखना और सूर्य्य के प्रकाश का आनन्द उठाना एक ही बात है। गायत्री मंत्र में कहा है कि हम ईश्वर को 'धीमहि' या धारण करें। ईश्वर को धारण करने का अर्थ ही ईश्वर के गुणों का धारण करना है। वे गुण क्या हैं? सायुज्य और सानुज्य मुक्ति नहीं अपितु ज्ञातृत्व भोक्तृत्व और कर्तृत्व का शुद्ध और विकसिततम रूप। जब यह प्राप्त हो जायगा और साम्य पराकाष्ठा को पहुँच जायगा तो इसी को परम पद या मोक्ष कहेंगे, जब तक इस साम्य में कमी रहती है मनुष्य कर्मवीर या विद्वान् या सुखी कहला सकता है परन्तु वह मोक्ष से कोसों दूर है। संभव कि वह मोक्ष की यात्रा का यात्री हो।

अब एक और विचार कीजिये। ईश्वर के भोक्तृत्व, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व की क्या विशेषता है जिसको जीव को अपने में उत्पन्न करना चाहिये। जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व में क्या त्रुटि है जिस को दूर करने से ईश्वर के गुणों का सामीप्य प्राप्त हो सकता है।

इसकी विवेचना के लिये दार्शनिक बाल की खाल निकालने की आवश्यकता नहीं। केवल प्राणियों के सामान्य व्यापार का निरीक्षण करना है। वास्तविक दर्शन तो यही है कि हम प्राणियों की सामान्य प्रवृत्तियों और प्रगतियों का निरीक्षण कर सकें। तत्व की खोज के लिए संसार से बाहर किसी सागर की खोज व्यर्थ है हमको अपने स्वरूप और ईश्वर के स्वरूप दोनों का दर्शन यहीं होगा। उपनिषद् कहती है :—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यतीशमन्यं तस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ (मु० उ० ३०)

अर्थात् जिस संसार रूपी वृक्ष पर तुम बैठे हो उसी पर तुम्हारा प्रभु भी है। वह अन्यत्र नहीं है, यहीं है। दुःख उसी समय तक है जब तक तुम अपने को देखते हो अपने प्रभु को नहीं। यदि तुम को उस प्रभु के भी दर्शन हो गये और तुम ने उसके गुणों को धारण कर लिया फिर तो शोक का नाम नहीं रहेगा। यही तो साम्य है। यही परम पद है।

अच्छा अब एक बार पीछे लौटिये। ईश्वर में भोक्तृत्व है। जीव में भी भोक्तृत्व है, परन्तु ईश्वर

'स्वानुभूति' से आनन्दित है उसे अपने बाहर कहीं से आनन्द उधार नहीं लाना पड़ता। यदि मुक्त जीव में भी यह शक्ति उत्पन्न हो जाय कि मैं अपने भीतर ही आनन्द का अनुभव करने लगूं तो मैं ईश्वर के समीप हो जाता हूँ, और कितना जितना मैं स्वानुभूति में अधिक आनन्द लेता हूँ उतना ही मैं उन लोगों की अपेक्षा उत्कृष्ट हूँ जो अन्य वस्तुओं में आनन्द खोजते हैं। शराबी का शराब में आनन्द तलाश करना और एक विद्वान् का विद्या में आनन्द खोजना। दोनों में क्या भेद है? पहले की अपेक्षा दूसरे की आनन्द मनाने की रीति विशद है। शास्त्रों में पांच कोश बताये गये हैं। अन्नमय कोश सब से स्थूल है। इस कोश से सम्बन्ध रखने वाले साधन भी स्थूल हैं, उनका सुख भी स्थूल है। जो मनुष्य विज्ञानमय कोष में विचरता है वह अपने आनन्द को विशद बनाता है, ज्ञान से केवल ज्ञान की पिपासा ही नहीं दूर होती अपितु ज्ञान द्वारा आनन्द भी होता है, वह आनन्द स्वादयुक्त भोजन से अधिक विशद है। हमारे विकास की एक कसौटी यह है कि हम को सुख की इच्छा के लिये किस प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा होती है।

अब अपनी ज्ञातृत्व शक्ति पर विचार कीजिये। परमात्मा को ज्ञान के लिये चार या आठ प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती, हमको होती है। और ज्यों ज्यों हम को शिक्षा और अभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्ति के साधनों को विशद बनाने की शक्ति आ जाती है त्यों त्यों हमारे प्रमाणों में भी विशदता होती जाती है। भूसे के तोलने की तराजू और स्वर्ण के तोलने की तराजू में भेद है। दोनों को हम प्रत्यक्ष प्रमाण ही कहेंगे परन्तु प्रमेय की सूक्ष्मता के लिये प्रमाण की सूक्ष्मता अनिवार्य है। शिक्षित मनुष्य किसी पुस्तक को पढ़ने में अर्ध शिक्षित की अपेक्षा आंख से कम काम लेता है। इसी प्रकार आप्त पुरुष थोड़े में ही अवलोकन से अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। और योगी को इन प्रमाणों की संकेत मात्र ही आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार हमारी ज्ञातृत्व शक्ति उत्तरोत्तर उन्नति करती जाती है। इसकी पराकाष्ठा का नाम परमपद है।

कर्तृत्व के विषय में भी इसी प्रकार भेद है। ब्रह्म की अनन्तता और जीव की अणुता ब्रह्म के कर्तृत्व और जीव के कर्तृत्व में भी भेद उत्पन्न कर देती है। आनन्द स्वरूप ब्रह्म क्रिया तो करता है परन्तु अपने आनन्द की वृद्धि के लिये नहीं, न दुःख के कम करने के लिये। इसी को वेदान्त में **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** कहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म का कार्य निष्प्रयोजन है, प्रयोजन तो है परन्तु अपना प्रयोजन नहीं। ईश्वर जो कुछ करता है जीव की उन्नति के लिये, परन्तु मनुष्य या अन्य प्राणी जो कुछ करते हैं वह अपने सुख के बढ़ाने या दुःख के कम करने के लिये। उनकी मुख्य प्रवृत्ति दुःख सुख से सम्बन्ध रखती है अपनी उन्नति से भी नहीं। शराबी समझता है कि शराब से उसे सुख मिलेगा या दुःख कम हो जायगा उसे यह भी परवाह नहीं कि मेरी उन्नति अर्थात् विकास के लिये शराब साधक है या बाधक। इस प्रकार अविकसित जीव की क्रिया स्वसुख अथवा स्वदुख के ही सम्बन्धित होती है स्व-उन्नति से भी नहीं, पर-उन्नति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु शिक्षित की प्रवृत्ति अपने सुख दुःख से उठकर स्व-विकास की ओर झुकने लगती हैं। और स्वविकास से पर-विकास की ओर। जीव के कर्तृत्व की उन्नति की यही कसौटी है, इसका यह अर्थ नहीं कि जीव को सुख की आवश्यकता नहीं। सुख की इच्छा उन्नति का हेतु नहीं, परन्तु उन्नति से सुख मिलेगा ही। रिमेका के प्रसिद्धश्र कवि लांगफैलो ने ठीक कहा है :—

नॉट इंजोयमैंट एएड नॉट सौरो ।

इज़् अवर डैस्टिएड ऍएड और वे ।

बट् टू ऐक्ट दैट् ईच टू मौरो ।

फाइएड्स अस बैटर दैन टू डे ।

अर्थात् हमारे जीवन का अन्तिम ध्येय सुख या दुःख का भोग नहीं है अपितु वह कर्तृत्व है जिसके द्वारा आगे आने वाला दिन गत दिवस की अपेक्षा हम को अधिक उन्नतिशील पा सके ।

यह उन्नति या विकास क्या है ? न तो दुःख का नाश न सुख की प्राप्ति । अपितु 'परमं साम्यम्' अर्थात् समन्वित विकास । यह बात नहीं कि इस विकास से सुख की प्राप्ति या दुःख का नाश नहीं होता । होता है, अवश्य होता है । परन्तु भेद दृष्टिकोण का है । कोई जीने के लिये खाते हैं, कोई खाने के लिये जीते हैं 'जीना और खाना दोनों में समान हैं । परन्तु भेद मनोवृत्ति का है । जो जीने के लिए खाता है वह जीता भी अधिक है और खाता भी अधिक है क्योंकि न जियेगा तो खायगा ही क्या ? परन्तु जो खाने के लिये जीता है वह स्वास्थ्य को बिगाड़ कर खाने के आनन्द से भी वंचित रह जाता है । इसी प्रकार जो पर-उन्नति में तत्पर है उसकी स्व-उन्नति भी होती है और उसको सुख भी प्राप्त होता है । इसलिये पर-उन्नति में तत्पर रहना और निष्काम कर्म करना ही मोक्ष का साधन बताया है, यजुर्वेद में कहा है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे । (यजु० ४०।२)

अर्थात् मनुष्य को कर्म करते ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये । इसी प्रकार वह कर्म में लिप्त नहीं होगा । परोपकार के कर्म बन्धन नहीं हैं, स्वार्थ के कर्म बन्धन हैं । अतः निष्काम कर्म ही मोक्ष के साधन हैं । निष्क्रिय होना मोक्ष का साधन नहीं । क्रियाहीन पुरुष सर्वथा क्रिया हीन तो रह नहीं सकता क्योंकि कर्तृत्व उसका स्वाभाविक गुण है । परन्तु वह कर्म के बन्धन में जकड़ जाता है । स्वार्थ उसको सताने लगता है । उसकी उन्नति रुक जाती है और वह दुःखी हो जाता है । यह बात नहीं है कि परोपकारी को सुख की प्राप्ति न हो, परोपकारी और निष्काम कार्य्य करने वाले से अधिक आनन्द तो किसी को होता ही नहीं । यह तो अक्षय आनन्द है । परन्तु वह सुख की खोज नहीं करता । तण्डुल के खोजी को भूसी तो मिल ही जाती है । कोई भूसी के लिए खेती नहीं करता । परोपकारी का कर्तृत्व ईश्वर के कर्तृत्व के सदृशतम होता है । उपासक वही है जो ईश्वर के निकट बैठा हो । यही उपासना है यही ईश्वर को धारण करना है । निष्काम कर्म मनुष्य को ईश्वर के सदृश बना देता है । जो मनुष्य जितना परोपकारी और निस्स्वार्थ है, उतना ही मुक्ति के निकट हैं, उतना ही सदाचारी है । और जब भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व पराकाष्ठा को पहुंच जाते हैं तो जीव मुक्त हो जाता है । यही उसका परमपद है । यह पद प्राप्त होते ही—

भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुंडक ३०)

अद्भुत ज्ञान, अद्भुत आनन्द और अद्भुत कर्म परायणता प्राप्त हो जाती है।

अब हम अपने मौलिक प्रश्न की ओर आते हैं। इस प्रकार जिसको परम पद की प्राप्ति हो गई अर्थात् जिसने भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के साम्य की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया क्या वह जीव फिर लौट कर संसार के बन्धन में आता है ?

हमारा उत्तर यह है कि वह संसार के बन्धन में तो नहीं आता परन्तु संसार में आता है। शरीर धारण करता है और उस शरीर के द्वारा अन्य बद्ध जीवों को अपना विकास करने में साधक होता है पथिक के रूप में नहीं अपितु पथप्रदर्शक के रूप में। यदि ऐसा न हो तो जीव का एक गुण अर्थात् कर्तृत्व तो निष्फल ही हो जाय। वह मुक्ति क्या जिसमें एक गुण नष्ट हो जाय। तिपाई के तीन पावों में से एक पावा तो टूट ही गया। यह उन्नति तो न हुई अवनति ही हुई। यदि कोई पुरुष कान की सुनने की शक्ति को बढ़ाने के लिये आंख फोड़ ले तो उसे बुद्धिमान कौन कहेगा ? लोगों ने समझ रखा है कि जीव केवल भोग का एक बण्डल है। ज्यों ही सुख की प्राप्ति हो गई उसकी यात्रा समाप्त हो गई। वह उन्नति के शिखर पर बैठा है, परम आनन्द भोग रहा है, उसको किसी की परवाह नहीं। ऐसे ही लोगों ने स्वर्ग में केवल भोग्य पदार्थों की ही कल्पना की है। वहाँ प्रत्येक वस्तु अनायास मिलती है और बिना मूल्य के यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी चाहे उनको 'हूर' कहिये चाहे गोमिका बात वही है। ऐसे ही लोगों के लिए तो एक उर्दू कवि ने कह ही डाला—

ज़ाहिद को कौन कहता वह हक़ परस्त है।
हूरों पै मर रहा है वह शह्वत परस्त है ॥

जो इसलिये मुक्ति चाहते हैं कि शराब पीने को मिले, आनन्द हो चाहे नशा न भी हो। स्त्रियां भोग को मिलें और गृहस्थ या सन्तान का झंझट न रहे। जब इच्छा हो सिद्रा और तूबा के वृक्षों की शाखायें झुक कर अपने मीठे फलों को हमारे मुंह तक पहुंचा देवें अथवा कामधेनु गाय हर समय हमारा मुंह मीठा करती रहे और हम को उसके चारा घास की भी चिन्ता न हो। ऐसे पुरुष अपनी ऐसी भावना मात्र से अपने को मुक्ति के अयोग्य सिद्ध कर देते हैं। जिनको साधारण मुमुक्षुत्व भी प्राप्त नहीं हुआ अपितु सदाचार के सामान्य तल से भी गिरे हुए हैं वह उन्नति से बहुत दूर हैं। जिसको आनन्द के भोग में दूसरों की परवाह नहीं रही वह उन्नति के शिखर पर है ही नहीं' उस ने भूल से अपने को ऐसा समझ रक्खा है। वह तो पौराणिक त्रिशंकु के समान बीच में लटक रहा है। स्वामी दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश में कहा है:—

"जो तुमसे कोई पूछे कि आंख के होने में क्या प्रयोजन है ? तुम यही कहोगे, देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है उसका क्या प्रयोजन बिना जगत् की उत्पत्ति करने के" (समु० ८)

हम भी महर्षि की युक्ति का अनुसरण करके कहते हैं कि "जीव में जो उसका गुण कर्तृत्व है उसका क्या प्रयोजन यदि उस से परोपकार करने के लिये मुक्ति के पीछे लौटे न ?" यह ठीक है कि बद्ध अवस्था में वह कर्म करता रहा। परन्तु बद्ध अवस्था के कर्म तो स्वार्थमय और ईश्वर के कर्मों से विपरीत थे। पूर्ण निष्कामतया परोपकार की योग्यता तो अभी प्राप्त हुई है। जो मनुष्य कौड़ी कौड़ी

जोड़ने की दशा में तो दान करता था परन्तु परमकोष का स्वामी होकर दान को भूल जाय उसको तो प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। यदि मुक्ति में पहुंच कर कोई जीव ऐसा है जो सोचता है अब तो परम आनन्द के भण्डार के ऊपर बैठे हैं, हम को किसी की क्या पड़ी, तो ऐसे स्वार्थी को स्वार्थ के अपराध में ही मुक्ति से निकाल कर नीचे फेंक देना चाहिये। वह उस संसार में रहने के योग्य है जहां प्रत्येक जीव आपाधापी में लगा हुआ है। मोक्ष जैसी सर्वोत्कृष्ट अवस्था तो और ही प्रकार की होनी चाहिये। स्वामी दयानन्द ने मुक्ति से पुनरावृत्ति के पक्ष में कई युक्तियाँ दी हैं। ये युक्तियां पूर्वपक्षियों की भावनाओं के अनुरूप दी गई हैं। जैसे:—

(१) 'जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है?'

यह युक्ति कर्म-शास्त्र से सम्बन्ध रखती है। जो जैसा करेगा वह वैसा पायेगा। फल कर्म के अनुसार होना चाहिये। यदि कर्म सान्त है तो फल अनन्त कैसा? कुछ लोग कह सकते हैं कि मुक्ति ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं। परन्तु यह भूल है। ज्ञान भी तो बिना कर्म के नहीं हो सकता। इसकी विवेचना 'कर्तृत्व' के साथ की जा चुकी है।

(२) 'अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते।'

आनन्द के भोग के लिये भी पात्रता चाहिये। गङ्गा में जल बहुत है परन्तु आप तो उतना ही ला सकते हैं जितना आपके पात्र में समा सकता है। ईश्वर तो अनन्त आनन्द का भण्डार है परन्तु जीव में यह सामर्थ्य नहीं।

(३) "जिन के साधन अनित्य हैं उन का फल नित्य कभी नहीं हो सकता"

जो चीज़ साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है वह नैमित्तिक होती है। नैमित्तिक वस्तु का आश्रय निमित्त के ऊपर रहता है। अतः नैमित्तिक वस्तु नित्य हो ही नहीं सकती। यह तो स्पष्ट दार्शनिक सिद्धान्त है।

(४) 'जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें'

परन्तु यह बात ऐतिह्य प्रमाण के विरुद्ध है। यह सृष्टि का प्रवाह अनन्त काल से चला आता है। इस समय भी पशु पक्षी कीट पतङ्ग आदि अनन्त जीव विद्यमान हैं। फिर यह कल्पना कैसे करली जाय कि जीवों का एक दिन अवश्य अन्त हो जायगा। और परमात्मा के कर्तृत्व गुण के सफल करने के लिये किसी सृष्टि-निर्माण की अवश्यकता रहेगी ही नहीं। न यह कहा जा सकता है कि अनन्त काल से अबतक किसी को मुक्ति नहीं मिली, यदि मुक्ति एक प्राप्य वस्तु है तो बहुतों को प्राप्त हुई होगी।

(५) यदि यह प्रश्न किया जाय कि **"जितने जीव मुक्त होते हैं उतने ईश्वर नये उत्पन्न करके संसार में रख देता है इसलिये निश्शेष नहीं होते" तो इसका उत्तर यह है कि 'जो ऐसा होवे तो जीव अनित्य हो जायें क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश अवश्य होता है, फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी विनष्ट होजायें, मुक्ति अनित्य होगई।"**

यह युक्ति इतनी स्पष्ट है कि मीमांसा की अवश्यकता नहीं।

(६) 'मुक्ति के स्थान में बहुत सा भीड़ भड़क्का हो जायगा।'

इस युक्ति के सुनने से हंसी अवश्य आती है। परन्तु इस में उत्तर का दोष नहीं। पूर्वपक्ष का दोष है। क्योंकि बहुत से लोग मुक्ति को स्थान विशेष से संबन्धित करते हैं। जहाँ स्थान है वहाँ स्थान की सीमा भी है। सीमा है तो अन्त हैं। और अन्त है तो भीड़ भड़क्का हुआ ही'

(७) "दुःख के अनुभव के विना सुख कुछ भी नहीं होसकता।"

जो जीव सदा मुक्ति के स्थान में रहेंगे वह नित्य सुख भोगते भोगते दुःख को सर्वथा भूल ही जायेंगे। फिर उनको सुख के मूल्य का भी भाव नहीं रहेगा।

(८) "जो ईश्वर अन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय"

यह भी कर्म का सिद्धान्त है जैसी शंका नं० १। भेद केवल इतना है कि नं० १ में नियम का उल्लेख है और नं० ८ में नियन्ता का। सिद्धान्त सर्वतंत्र ही है।

(९) अल्पज्ञ अल्प सामर्थ्य वाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना ईश्वर के लिये ठीक नहीं"।

यहां दो शब्द दिये हैं। पहला 'अल्पज्ञ' जो जीव के ज्ञातृत्व की सीमा बताता है। दूसरा 'अल्प सामर्थ्य, जो जीव के कर्तृत्व की सीमा का बोधक हैं। जब दो गुण सीमित हुये तो तीसरा 'आनन्द' कैसे असीम और अनन्त हो सकता है ? फिर तो 'साम्य' न रहकर विषमता आ जायगी।

कुछ लोग शायद कहें कि सुख के भोगने में सामर्थ्य का क्या प्रश्न ? परन्तु जिस प्रकार दुःख असह्य होसकता है उसी प्रकार सुख भी असह्य होसकता है। सुखी मनुष्य के आपे से बाहर हो जाने की अधिक संभावना है। अनन्त आनन्द को परमात्मा ही पचा सकता है जीव नहीं। हम संसार में नित्य देखते हैं कि वैभव अथवा उच्चपद को पचाने वाले बहुत कम हैं।

(१०) "जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है तो जिस कारण से उत्पन्न होते हैं वह चुक जायगा"।

ईश्वर तो उत्पादक ही होगा उपादान तो दूसरा ही होगा। यदि उपादान प्राकृतिक नहीं तो वह उपादान ही नहीं। विना उपादान के उत्पत्ति कैसी ? यदि प्राकृतिक उपादान मानो तो दो प्रश्न उत्पन्न होंगे। क्या ईश्वर अब तक जो जीव हैं उनके बनाने में समस्त उपादान व्यय कर चुका या कुछ शेष है ? यदि समाप्त कर चुका तो नये जीवों के लिये उपादान कहाँ से आयेगा ? यदि कुछ शेष है तो शेष उपादान इतने दिनों निष्फल पड़ा रहा। यह क्यों ? उस उपादान का प्रयोजन ही क्या जो अनन्तकाल से व्यर्थ ही शेष पड़ा हुआ है ?

(११) "जब वहां से आना ही न हो तो जन्मकारागार से इतना ही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती।"

यह उत्तर उन लोगों के लिये है जिनकी दृष्टि जीव के भोक्तृत्व पर है। कर्तृत्व को सर्वथा भुलाये हुए हैं। यतः पूर्व पक्ष सर्वथा लौकिक था अतः उत्तर भी उसी प्रकार का दिया गया। लोक में

देखा जाता है कि जो सुख जबरदस्ती दिया जाय वह दुःख हो जाता है। बच्चे मिठाई पसन्द करते हैं। परन्तु यदि उनको कहा जाय कि मिठाई खानी ही पड़ेगी अन्यथा दण्ड मिलेगा तो वह मिठाई मज़ेदार नहीं रहेगी। कामी पुरुष काम की तृप्ति को अच्छा समझता है। परन्तु यदि उससे कहा जाय कि तुम को काम की तृप्ति जबरदस्ती करनी पड़ेगी न करोगे तो १०० कोड़े लगेंगे। तो वह कामी पुरुष भी सुख के स्थान में दुःख का अनुभव करेगा।

(१२) "ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।"

यह तो स्पष्ट ही है। 'लय' एक एक प्रसिद्ध शब्द है परन्तु उसका अर्थ बहुत कम लोग समझते हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु में कैसे लय होती है। यदि 'लय' का अर्थ 'उपचय' है तो जीव ब्रह्म में लय हो ही नहीं सकता क्योंकि ब्रह्म में 'उपचय' का क्या अर्थ? यदि 'जीव' अपना अस्तित्व खो देता है तो 'डूब मरने के समान' हुआ ही। ऋषि ने यहां यह नहीं कहा कि जैसे नदियां समुद्र में लय होती हैं क्योंकि वहां तो उपचय स्पष्ट ही है। जो जल नदियों का समुद्र में गिरता है वह नष्ट नहीं होता केवल स्थान परिवर्त्तन करता है। परन्तु यदि कोई मनुष्य समुद्र में जाकर डूब जाता है तो वह अवश्य नष्ट हो जाता है। मुक्ति नाश का नाम नहीं। नाश या लय को न तो 'परमधाम' कह सकते हैं न 'आनन्दधाम'।

(१३) अब यह प्रश्न करते हैं कि जब मुक्ति जन्म मरण के सदृश है तो इसके लिये श्रम करना व्यर्थ है, इसका उत्तर ऋषि दयानन्द ने यह दिया है कि प्रथम तो "**मुक्ति जन्म मरण के सदृश नहीं**" मरण दुःख है और जन्म भी दुःख। मुक्त पुरुष न तो मुक्ति के होने पर दुःखी होता है न पुनरावृत्ति के समय। शरीर धारण करने और शरीर त्यागने के नाम दुःख नहीं। शरीर को बलात् छोड़ने और बलात् आरम्भ करने से दुःख होता है। नये कपड़े पहनने और पुराने कपड़े उतारने में किसी को दुःख नहीं होता। परन्तु जो क़ैदी है उसको नये पहनने और पुराने उतारने दोनों में दुःख होता है क्योंकि वह दोनों बातें उसकी दुःखमय ी अवस्था से सम्बद्ध हैं। जिसको तत्वज्ञान हो गया उसको शरीर का होना या न होना या बदलना कैसे दुःख देगा? वहां तो दृष्टि कर्त्तव्य की ओर है। और आनन्द के भाव और अभाव की भावना भी उसी दृष्टि से है। यह ठीक है कि शरीर धारण करने का नाम जन्म है और शरीर परित्याग का मरण। परन्तु जन्म मरण के साथ दुःख का सम्बन्ध लौकिक साधारण जन्म मरण की अपेक्षा से है। संसार में लिप्त पुरुष के जन्म मरण दुःख के हेतु होते ही हैं सांसारिक ज्ञानी पुरुषों को अज्ञानियों की अपेक्षा कम दुःख होता है और परम योगियों को अत्यन्त कम। फिर मुक्त पुरुषों को तो दुःख होना ही न चाहिये। हम सब संसारी भी यही कामना किया करते हैं कि हमारा अन्त शान्तिमय हो क्योंकि अन्त तो अवश्यम्भावी है। फिर मुक्ति तो बड़ी उत्कृष्ट अवस्था है। जब कुत्ते की मौत और योगी की मौत में भेद है और योगी की मौत सब मरना चाहते हैं, कुत्ते की मौत कोई मरना नहीं चाहता तो मुक्ति को साधारण मृत्यु के और पुनरावृत्ति को साधारण जन्म के सदृश मानना भूल ही तो है। रहा श्रम का प्रश्न। उसके लिये स्वामी दयानन्द कहते हैं कि—

"**जब क्षुधा, तृषा, क्षुद्र धन, राज्य, प्रतिष्ठा, स्त्री सन्तान आदि के लिये उपाय करना आवश्यक है तो मुक्ति के लिये क्यों न करना?**"

इस प्रकार ऋषिवर ने तर्क का उत्तर तर्क से, मनोविज्ञान का मनोविज्ञान से, विनोद का विनोद से, भावुकता का भावुकता से और लौकिक स्वार्थ दृष्टि का लौकिक स्वार्थ दृष्टि से देकर यह सिद्ध कर दिया है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है।

वस्तुत: यदि मुक्ति अनन्तकाल के लिये हो तो मुक्त जीवात्मा परमात्मा के नियन्त्रण से ही बाहर हो जावें। परमात्मा का जीवों पर एक ही नियन्त्रण है अर्थात् कर्मों का फल देना। यदि कर्म बन्द हो गये तो उनका फल भी बन्द होगा ही। फिर जीव ईश्वर के आश्रित ही न रहेंगे। वह ऐसी अवस्था में पहुँच जायँगे जहां से ईश्वर भी उनको हटा नहीं सकता।

अब हम थोड़ा सा शब्द प्रमाण के विषय में विचार करेंगे। पुनरावृत्ति के पक्ष में स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेद का नीचे लिखा मंत्र दिया है:—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥ ऋ० १।२४।१,२

प्रश्न—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है हम को मुक्ति सुख का भोग कराकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है॥१॥

उत्तर—हम इस स्वप्रकाश स्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भोग करा कर पृथिवी में पुनः माता पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है॥२॥

यद्यपि सायणाचार्य ने इन मन्त्रों को शुनः शेप की पौराणिक गाथा से सम्बन्धित किया है और वैदिक शब्दों के यौगिक होने, वेदों में इतिहास न होने, और वेद मन्त्रों में 'शुनः शेप' की पौराणिक कथा का कुछ भी संकेत न होने के कारण यह माननीय नहीं हो सकता तथापि सायण के निम्न शब्द प्रकट करते हैं कि स्वामी दयानन्दकृत अर्थ असंगत नहीं हैं।

"को देवो नः अस्मान् मां मुमूर्षुं पुनरपि मह्यै महत्यै अदितये पृथिव्यै दात् दद्यात् तेन दानेनाहममृतः सन् पितरं च मातरं च दृशेयं पश्येय" मिति।

यहां "पुनरपि" और "अमृतः सन्" शब्द विशेष विचार के योग्य हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सायणाचार्य पुनरावृत्ति के पक्ष में हैं तथापि 'अमृत हो जाने के पश्चात् माता और पिता को देखना कैसे हो सकता यदि पुनरावृत्ति न होती। सायणाचार्य के समय में दो बातें प्रसिद्ध थीं एक तो शुनः शेप की पौराणिक गाथा, दूसरे मुक्ति से न लौटने का सिद्धान्त। सायणभाष्य में वाक्य-विपर्यय इसी धारणा के कारण हुआ है। वेद में कोई ऐसा मंत्र नहीं है जो पुनरावृत्ति का खण्डन करता हो।

स्वामी दयानन्द जी ने दूसरा प्रमाण सांख्य दर्शन का दिया है:—

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः। (सांख्य १।१५९)

"अत्यन्त विच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी होता।"

न्याय दर्शन का सूत्र—

'तदत्यन्तविमोक्षोपवर्ग' (१।१।२२)

पुनरावृत्ति का खण्डन नहीं करता। यहाँ तो दुःख के अत्यन्ताभाव का ही उल्लेख है। हम भी मानते हैं कि मुक्ति में दुःख का लेश मात्र भी नहीं होता। परन्तु इससे पुनरावृत्ति तो असिद्ध नहीं ठहरती।

वेदान्त दर्शन का अन्तिम सूत्र "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" बहुधा भ्रम उत्पन्न करने का कारण हुआ है। लोक समझते हैं कि "नहीं लौटता नहीं लौटता" दोबार इसीलिए कहा कि लौलने का कोई भी प्रसंग न रहे। परन्तु यह भूल है। यह दर्शनों की शैली है कि अध्याय या पाद के अन्तिम सूत्र को दुहराते ही हैं। यह विषय के प्राबल्य का सूचक नहीं अपितु अध्याय या पाद की समाप्ति का सूचक है। परन्तु यही वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् के अन्त में आते हैं;—

"आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंऽ सन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।"

यहां "यावदायुषं" पद 'वर्तयन् के पश्चात् और "ब्रह्मलोकभिसम्पद्यते के पहले पड़ा है। यहां सर्वदा आदि शब्द नहीं है। 'यावदायुषं' यदि 'वर्त्तयन्' के पूर्व होता तो 'इस जीवन पर्यन्त' ऐसा अर्थ होता 'वर्तयन्' के पीछे होने से इसका अर्थ यह होना चाहिये "मियाद रहने तक" (यावदवधि)। श्री शंकराचार्य जी ने ऐसा अर्थ किया है—

"यावद् ब्रह्मलोकस्थितिस्तावत् तत्रैव तिष्ठति" इत्यादि।

यहां मोक्ष के लिये "ब्रह्म लोक" शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् जब तक मोक्ष की अवधि है तब तक। ब्रह्म लोक स्थान विशेष का नाम नहीं हैं। और यदि होता भी तो भी 'यावत्' शब्द उसकी स्थिति की अवधि का ही सूचक होता। 'यावत्' कहने मात्र से 'शाश्वत' का खण्डन हो जाता है। यह अवधि छान्दोग्य में अन्यत्र दी हुई है:—

"इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते।" (छान्दोग्य ४।१५।६)

शङ्कराचार्य ने यह वाक्य वेदान्त दर्शन के अन्तिम सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है। और अपने छान्दोग्योपनिषत् के भाष्य में इस प्रकार व्याख्या की है:—

इमं मानवं मनु सम्बन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्त्तं नावर्तन्ते।"

इसको आनन्दगिरि ने अधिक स्पष्ट कर दिया है:—

"कल्पान्तरे त्वावृत्तिरिति सूच्यते।"

अर्थात् यह न लौटना केवल कल्प भर के लिए हैं। अन्य कल्प में तो लौटना होगा ही।

छान्दोग्य के यह दो स्थल और वेदान्त का अन्तिम सूत्र यह तीनों एक ही प्रसंग के विषय में नहीं हो ऐसा तो कोई हेतु नहीं है। यह तो शंकर आदि सभी आचार्य मानते हैं कि स्वर्ग से लौटना होता है। स्वर्ग और मोक्ष में क्या अन्तर है इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यों तो साधारण सुख

को भी स्वर्ग कहा है और इस प्रकार तो मोक्ष पद का भी प्रयोग अन्य प्रकार के छुटकारों के लिये होता है। परन्तु पारलौकिक अर्थ में स्वर्ग और मोक्ष में भेद नहीं होना चाहिये। शायद लोगों ने स्वर्ग को स्थान विशेष मान कर ही उससे मोक्ष की भिन्नता कल्पित की है। यदि स्वर्ग का अर्थ न मोक्ष माना जाय न साधारण लौकिक सुख तो प्रश्न होगा कि स्वर्ग क्या है? स्थान विशेष तो हो नहीं सकता। इसके विषय में पहले लिखा जा चुका है। योनि विशेष भी नहीं हो सकता क्योंकि योनि प्राकृतिक होगी। यदि अवस्था विशेष है तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, मुमुक्षत्व, जीवन्मुक्ति और मोक्ष में से कौन सी अवस्था होगी। इसलिए मानना पड़ेगा कि पारलौकिक अर्थ में मोक्ष और स्वर्ग में भेद नहीं और स्वर्ग से पुनरावृत्ति मोक्ष से ही पुनरावृत्ति है।

"तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते"

इसका सीधा अर्थ तो यही है कि जैसे साधारण कर्मों द्वारा प्राप्त की हुई अवस्था की सीमा है उसी प्रकार 'पुण्य' (अर्थात् धार्मिक जीवन) के द्वारा प्राप्त की हुई मोक्ष अवस्था का भी अवश्य ही अन्त होना है। 'इह' और 'अमुत्र' दो शब्द प्रकट करते हैं 'पुण्यचित्' लोक मोक्ष ही है। 'अमुत्र' का अर्थ पुनर्जन्म का वह भाग जिसके कारण जन्म हुआ पुण्यचित् नहीं अपितु पापचित् ही है। शुद्ध पुण्यचित् तो मोक्ष ही है। छान्दोग्य उपनिषत् के पहले अध्याय के आठवें खण्ड का निम्न भाग विचारणीय है—

"अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोकः।"

अर्थात् परलोक के पीछे क्या होगा? उत्तर दिया कि 'यह लोक'। इस पर प्रश्नकर्त्ता फिर पूछता है कि इस लोक के पश्चात् क्या होगा? इस पर उत्तर देने वाला झिड़क देता है कि इस प्रकार तो प्रश्नों का अन्त ही कभी नहीं होगा। इस प्रकार हमारा विचार है कि स्वर्ग से पुनरावृत्ति जो सर्व-सम्मानित सिद्धान्त है मोक्ष से ही पुनरावृत्ति है। स्वामी दयानन्द जी ने मोक्ष की अवधि बताते हुये मुण्डकोपनिषत् का यह वचन दिया है—

ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। (मुण्डक ३।२।६)

अर्थात् परान्तकाल के पश्चात् अमृतात् (मोक्ष) से जीव लौट आते हैं।

आज कल मुण्डक उपनिषद् में 'परामृतात्' के स्थान में 'परामृताः' है। परन्तु कैवल्य-उपनिषत् में 'परामृतात्' आया है। कुछ कैवल्य-उपनिषदों में 'परामृताः' भी मिलता है। अतः हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द को मुण्डक में भी 'परामृतात् ही मिला होगा और कैवल्य की पिछली प्रतियों में किसी ने 'परामृताः' पाठ कर दिया होगा क्योंकि मुक्ति से न लौटने का सिद्धान्त लोगों के हृदय में घर कर गया था। और उसी के अनुकूल उपनिषद् के पाठ को किसी ने बदल दिया। परन्तु केवल इतने से ही सचाई छिपी नहीं। श्री शंकराचार्य ने मुण्डक के भाष्य में इस प्रकार पाठ दिया है:—

ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले, परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।

इसके भाष्य में 'परान्तकाल' का अर्थ इस प्रकार किया है:—

"संसारिणां ये मरणकालास्तेऽपरान्तास्तानपेक्ष्यमुमुक्षूणां संसारावसाने देह परित्याग-कालः परान्तकालः"।

यहाँ परान्त और अपरान्त का भेद शंकर स्वामी ने केवल इसीलिए किया कि वह मुक्ति से लौटना नहीं मानते थे। पाठकगण शंकर स्वामी का इस मंत्र पर सम्पूर्ण भाष्य पढ़ें। उनको पता चल जायगा कि समस्त भाष्य में एक प्रकार की अस्वाभाविकता है। परान्तकाल कालगणकों का पारिभाषिक शब्द है और मोक्ष की अवधि का सूचक है। शांकर-भाष्य में 'संसारावसाने' शब्द कई उलझनें उत्पन्न कर देता है जो मूल में नहीं हैं।

यद्यपि मोक्ष केवल परोक्ष का विषय है और आज कल के प्राकृतिक जीवन में इसका उपयोग प्रतीत नहीं होता तथापि हमने इसको इसलिये लिया है कि इस सिद्धान्त का हमारे लौकिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और मोक्ष सम्बन्धी कई भ्रमात्मक सिद्धान्त हमारे लौकिक विकास में विघ्न डाल रहे हैं।

आर्य समाज के महाधन

[लेखक—श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज]

आर्यसमाज प्रचारक तथा सुधारक समाज है। संसार के आरम्भ में वैदिक धर्म ही धर्म माना जाता था, पश्चात् क्रमशः उसमें शिथिलता आकर धर्म के नाम पर अनेक बातें प्रचलित हो गईं। उनके सुधार के लिये अनेक महानुभावों ने समय समय पर प्रयत्न किये। उनके पश्चात् पुनः स्वार्थी और आलसी तथा धूर्त व्यक्तियों ने जनता को धर्म पथ से भ्रष्ट कर दिया, तब महर्षि दयानन्द जी ने वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ किया. और रूढ़िवाद में सुधार का सफल प्रयत्न किया। यह स्वाभाविक बात है कि पंथाई लोग अंध विश्वास के कारण सुधार नहीं चाहते हैं, और स्वार्थी लोग धर्म को समझते हुए भी स्वार्थवश रूढ़िवाद में रहकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। अतः वह भी सुधारकार्य के विरोधी होते हैं। वह स्वयं तो बिना निन्दा के कुछ कर नहीं सकते हैं, परन्तु अपने अन्ध भक्तों को प्रेरणा करते हैं, कि सुधारक को संसार से उठा कर पुण्यवान बनो। इसी पुण्य, स्वर्ग, बहिश्त के प्रलोभन में आकर वह सुधारक वा सुधारक दल के धर्म प्रचारकों का जीवन हरण करते हैं, यही महाधनों का मार्ग है।

जब पंथाई अपने पक्ष का मंडन युक्ति से नहीं कर सकते और उनके अगुआ केवल यह पूर्व से चला आता है, कह कर संतुष्ट हो जाते हैं। और उस दल में जो वृद्ध समझदार व्यक्ति होते हैं, वह तुलना करके, धर्म का यथार्थ रूप समझ कर रूढिवाद को तिलांजलि देते हैं, तब उस दल में अगुआ सुधारक धर्म प्रचारक धर्मात्मा जनों के शत्रु बन कर स्वयं वा अपने किसी विवेक-हीन, अन्धविश्वासी द्वारा उनका प्राणहरण ही धर्म समझ कर वैसा करने में तत्पर हो जाते हैं, और उन महात्माओं की जीवनलीला समाप्त करके ही संतुष्ट होते हैं।

यह साधारण नियम है। आर्यसमाज के साथ भी इसी नियम का पालन किया गया। आरम्भ से लेकर अब तक आर्य समाज के अनेक सज्जन इस मार्ग के अनुयायी हुए। रूढिवादियों ने उनकी जीवन-लीला समाप्त करके अपने कर उनके रुधिर से रँगे।

उनमें से कुछ के संक्षिप्त जीवन मैं यहां पाठकों की भेंट करता हूँ, क्योंकि मेरा विचार उन